सरोवर की लहरें

द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी, शास्त्री

कथा-संग्रह

प्रेमी प्रकाशन
रायबरेली

सरोवर की लहरें

कथा-संग्रह

कर्ता

द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी, शास्त्री

○

प्रेमी प्रकाशन

रायबरेली

१९६९] [एक रुपया

सरोवर की लहरें

कथा-संग्रह

O

कर्ता : द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी

प्रकाशक : प्रेमी प्रकाशन, रायबरेली

मुद्रक : अनुपम प्रेस, देवनगर, कानपुर

मूल्य : एक रुपया

वर्ष : १९६९

O

अर्घ्याञ्जलि

परमपूज्य माता-पिता के श्रीचरणों में
जिनकी पावन गोद
मेरे लिए स्नेह का महासागर रही है,
सादर
सविनय

आत्म-स्वीकृति

⊙

छात्र-जीवन में युग-पुरुष महात्मा गांधी की कुछ सूक्तियाँ मैंने पढ़ी थीं। बड़ी प्रेरक लगीं। मन में कल्पना-तरंग उठी कि उन्हें आत्मसात् करके जीवन को किसी ऐसे लक्ष्य की ओर ले चलूं, जो पूज्य बापू के आदर्शों पर आधारित हो। किन्तु वैसा हो न सका। बापू महामानव थे, और मैं एक क्षुद्र संसारी प्राणी। उनकी सूक्तियों के प्रति निष्ठा रखकर भी, तदनुसार आचरण नहीं कर पाया। न समाजसेवी बना, न त्यागी और न ही राजनीतिज्ञ। एक स्वार्थी गृहस्थ हूँ जो रात-दिन अपने परिवार-पालन को ही वरीयता देता है।

समय का एक दीर्घ व्यवधान पार करके भी वे सूक्तियाँ मेरे अन्तर्मन में समय-समय पर कौंधती रही हैं। जब व्यवहार में उन्हें स्वीकार नहीं कर सका, तो कल्पना का आश्रय लिया। उसी का मूर्तरूप है यह कथा-संग्रह—'सरोवर की लहरें'। बापू की उन सूक्तियों का स्पर्श ही मेरे मनःसरोवर में इन लहरों का निर्माता रहा है। यह बात दूसरी है कि भौतिक जगत् की विषम झंझा ने उन्हें भ्रष्ट, विशृंखल और अशोभन बना दिया है। तथापि, बापू के शब्दों का प्रभाव इनमें कुछ न कुछ प्रेरक तत्व, जीवन्तता और शिव-भावना अवश्य भरेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

वैसे भी, मैं आस्तिक हूँ और गोस्वामी जी के इस कथन पर मेरी अडिग आस्था है—

पारस परसि कुधातु सुहाई ।

× × × ×

दारु विचार कि करिय कोउ, बन्दिय मलय प्रसंग ।

तो,

गांधी-जन्म-शताब्दि-समारोह के अवसर पर मेरी वातुलता 'सरोवर की लहरें' बनकर आग्रह-दुराग्रह पूर्वक आप सबको छूने-भिगोने के लिए प्रस्तुत हैं। संभव है, किसी को इनसे आनन्द मिले और किसी को वितृष्णा। फिर भी, मुझे सन्तोष होगा कि इन्होंने आपको छुआ तो!

साहित्य-साधना के क्षेत्र में मुझे जिन मित्रों से प्रेरणा मिली है, उनमें कवि श्री बालकृष्ण मिश्र और श्री कपिलदेव सिंह जी अग्रगण्य हैं। पूज्यश्री 'द्विजहंस' जी तो मेरे संरक्षक हैं ही। इन सबके प्रति मैं तन-मन से कृतज्ञ हूँ। साथ ही, उन निन्दकों की भी प्रशंसा करूँगा जिनके निर्मम उपालम्भों ने मुझे सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। इस कोटि में सर्वप्रथम आते हैं श्री शत्रुघ्नलाल शुक्ल।

अन्त में, धन्यवाद दूँगा अपनी पत्नी को, जो व्यस्त-क्लान्त रह कर भी मेरी क्षुधापूर्ति के प्रति सतत् जागरूक रहती हैं।

किलाबाजार
रायबरेली
१५ अगस्त '६९

—द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी, शास्त्री

जो व्यक्ति अपनी रोजी ईमानदारी से कमाना चाहता है, उसके लिए किसी भी प्रकार का श्रम करना अपमानजनक नहीं है। जरूरत केवल इस बात की है कि परमात्मा ने हमें जो हाथ-पैर दिए हैं, उनका इस्तेमाल करने को हम तैयार रहें। परमात्मा ने मनुष्य को पैदा ही इस लिए किया है कि वह अपनी रोटी के लिए स्वयं परिश्रम करे।

× × ×

जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का उचित पालन करता है, उसे अधिकार अपने-आप मिल जाते हैं। सच तो यह है……एकमात्र अपने कर्तव्य-पालन का अधिकार ही ऐसा अधिकार है, जिसके लिए मनुष्य को जीना चाहिए और मरना चाहिए।

—महात्मा गान्धी

स्त्री और पुरुष का दर्जा बराबर है। वे एक दूसरे के पूरक हैं; दोनों एक दूसरे की मदद करते हैं और एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

× × ×

देश के युवकों का दृष्टिकोण बदलने के लिए चरित्र-शिक्षा का बड़ा महत्त्व है।

—महात्मा गान्धी

दोष से ही हम सभी भरे हैं, मगर दोष-मुक्त होने का प्रयास करना हम सब का कर्तव्य है। जीवन में जो कुछ पवित्र और धार्मिक है, स्त्रियाँ उसकी विशेष संरक्षिकाएँ हैं।

× × ×

दहेज की पतनकारी प्रथा की निन्दा करने के लिए सबल लोकमत पैदा किया जाना चाहिये। और, जो युवक इस तरह के पैसे से अपने हाथ गंदे करते हैं, उनका सामाजिक बहिष्कार होना चाहिये।

—महात्मा गान्धी

नशा तथा शराब शैतान के दो हाथ हैं, जिनसे वह अपने असहाय शिकार को हनन करके चेतनाहीन और प्रमत्त कर देता है।

× × ×

जो युवक शादी में दहेज की माँग करता है, वह अपनी शिक्षा, अपने देश और स्त्री जाति को कलंकित करता है। यह प्रथा समाप्त होनी चाहिये।

—महात्मा गान्धी

विष-बेलि

जबसे साहित्यिक जीवन अपनाया है, मैंने तीसरे दर्जे की यात्रा छोड़ दी है। कहाँ मैं कल्पनाजीवी एकान्तप्रेमी और कहाँ वह थर्ड के डिब्बे का हंगामा! उफ़, उसकी तो याद से ही रोमांच हो आता है। आज भी बैठा हूँ, तो सेकेण्ड में। दाम ज्यादा देना पड़ा, सही; पर मजे में तो हूँ! गाड़ी उड़ी चली जा रही है। डिब्बे में सर्वथा एकाकी होने के कारण मैं स्वभावतः चिन्तामग्न हूँ—

………आगरा पहुँच कर क्या करना है? और चाहे कुछ भी नहीं; पर 'ताज' तो अवश्य देखूँगा। मुगल-हृदय के प्रणय का वह सुविख्यात स्मारक! सोचता हूँ, काश, मैं भी एक ताज बनवा कर उसमें सपत्नीक चिर-निद्रा में लीन होता।

कल्पना और भी अनेक आकांक्षाओं को सामने ले आती है। सहसा ध्यान आता है—'कपिल' जी के पास ही पहले जाना चाहिए। उन्होंने बुलाया है, तो घूमने का प्रोग्राम उन्हीं की इच्छानुसार बनना चाहिए।

कोई स्टेशन है शायद, क्योंकि गाड़ी धीमी हो रही है। हाँ, अब वह थोड़ी दूर बाद खड़ी होगी। कुछ चहल-पहल की आवाज आती है; पर रात में कौन उठे। मैं चुपचाप लेटा हूँ। गाड़ी फिर सरकने लगती है। मैं कल्पनाओं में लीन हूँ—मुमताज, शाहजहाँ की प्रेयसी! तभी दरवाजा खुलता है और कोई भीतर आता है। मैं चकित-सा इधर-उधर देखता हूँ। आँखों पर विश्वास नहीं होता। सामने एक सुन्दरी खड़ी है। आधुनिक प्रसाधनों से सज्जित। सोचता हूँ, यही तो कदाचित मुमताज है! नहीं-नहीं, यह तो कोई देवबाला है या सिने अभिनेत्री। और, तभी वह रमणी-मुख मेरी ओर देख कर बिहँस उठता है—"ओह! लवली मीटिङ्ग, अनफारगेटेबुल कम्पनी! (अहा, कैसा प्रेमपूर्ण मिलन और अविस्मरणीय संग है) रात का समय,

रेल का सफर और मेरे कवि-हृदय को सर्वथा एकान्त में एक सुन्दरी के द्वारा ऐसा प्रेमाह्वान ! सारी क्लान्ति नष्ट हो जाती है। उठ कर बैठ जाता हूँ और अपनी अतृप्त उद्दाम भावनाओं को शालीनता के आवरण में अवगुण्ठित करके, खड़ा होकर बोल उठता हूँ—"योर वेलकम इज ए गाड गिफ्ट मैडम !" (श्रीमती, आपका शुभागमन निश्चय ही एक ईश्वरीय कृपा है।)

युवती हँसती हुई सामने की बर्थ पर बैठ जाती है और मैं आनन्द-विभोर-सा उसकी रूप-राशि को निहारने लगता हूँ। लेकिन एक क्षण भी नहीं बीतता कि किसी दुःस्वप्न-जैसा एक जीवित व्याघात हमारे बीच आ खड़ा होता है। वह टिकट चेकर है। आकर मेरे करीब बैठ जाता है और चुप-चाप अपना हिसाब जोड़ने लगता है। गाड़ी की रफ्तार बढ़ गई है और मैं एक पश्चात्ताप भरा उच्छ्वास लेकर मन में उसको गालियाँ देता हुआ, पंखे की ओर देखने लगता हूँ। कुछ युग और बीतते हैं, तभी वह निशाचर मुझसे कहता है—"टिकट प्लीज !" मेरे पास रेलवे का पास है। निकाल कर उसे दे देता हूँ। वह उसे पढ़ने लगता है। मैं इतना अधिक क्षुब्ध हो उठा हूँ कि अपना क्रोध शान्त करने के लिए बाथरूम में चला जाता हूँ।

अभी वहाँ से लौट भी नहीं पाया था कि एक भीषण चीत्कार कानों से टकराता है। कहीं सीता-हरण तो नहीं हो रहा है ? झपट कर बाहर निकल आता हूँ। डिब्बे का दृश्य इतना रोमांचकारी हो उठा है कि मैं अपने पर संयम नहीं कर पा रहा हूँ।

युवती का आँचल सरक गया है। वह खड़ी थरथरा रही है। श्वास-वेग के साथ ही वक्ष का कम्पन उसके भय को स्पष्ट कर रहा है। मुख पर दैन्य भावना है; जैसे उसका सर्वस्व लुटा जा रहा हो। मुझे देखते ही वह एकदम से उसी दशा में मेरे पास आकर कहती है—"यह शोहदा मेरी इज्जत लूटने पर आमादा है।"

मैं कठोर दृष्टि से चेकर की ओर देखता हूँ। वह चुप है; लेकिन चेहरा भय, आश्चर्य और पराजय की छाया से मलिन—हतप्रभ।

मैं पूछता हूँ—"ह्वाई दिस हैबिट ?" (ऐसी आदत क्यों)

वह अधेड़ टी० टी० आँखें फाड़-फाड़ कर मुझे देख रहा है, जैसे मैं कोई अलौकिक प्राणी हूँ। हकलाते हुए कहता है—"मैंने तो सिर्फ टिकट माँगा था।"

"नानसेंस! बदतमीजी से नहीं पेश आया? साड़ी नहीं खींचा मेरी? बदमाश कहीं का!" युवती इस प्रकार चीख उठती है, जैसे सावित्री का स्वर हो।

मैं गरज कर कहता हूँ—"अगले स्टेशन पर पुलिस के हवाले कर दूँगा तुम्हें, चेकर!"

"जी मैं......मैं......मैं......तो...टिकट...।" चेकर का स्वर लड़खड़ा जाता है।

युवती फिर चीखती है—"टिकट तो तूने पिछले स्टेशन पर ही ले लिया था! अभी तक वापस कहाँ किया है?" फिर मुझसे कहती है—"यह बड़ी देर से मेरे पीछे पड़ा है।" साथ ही, उसकी आँखों में गङ्गा-यमुना की धारायें प्रवाहित हो उठती हैं।

"आप घबरायें मत। मेरे सामने यह आपसे बोल भी नहीं सकता। अगले स्टेशन पर ही इसकी मरम्मत कर दूँगा।" अपने पौरुष के प्रति मैं युवती को आकृष्ट करता हूँ।

चेकर बिना कोई प्रतिवाद किये चुप है, जड़-जैसा मौन। शायद उसकी अपराधी आत्मा अपने को धिक्कार रही है। थोड़ी देर बाद फिर कोई स्टेशन आता है। चेकर चुपचाप उठ कर चल देता है। मैं बिना लाठी टूटे ही साँप को मृत देख कर युवती को उपकृत करने वाले स्वर में कहता हूँ—"भाग गया बदमाश! अब आप निश्चिन्त होकर बैठिए।" फिर कुछ मीठे, मुस्कान भरे स्वर में कहता हूँ—"चाय मंगाऊँ? कहाँ तक चलेंगी?"

युवती हँसती हुई पावदान की ओर बढ़ जाती है—"मुझे तो सिर्फ यहीं तक पहुँचना था। चाय पिलाओ अपने उस बेवकूफ भाई को, जो एक बिना टिकट की औरत से डर कर भाग गया।"

"क्या ! आप बिना टिकट हैं ?" चाबुक की सी मार खाकर मैं तिलमिलाया-सा उठ कर खड़ा हो जाता हूँ ।

तब तक वह पावदान से नीचे उतर पड़ी है और "यस, इट इज माई बिजिनेस" (हाँ, झाँसा देना मेरा व्यवसाय है) कह कर भीड़ में खो जाती है ।

गाड़ी चल पड़ी है । मैं अपने डिब्बे में फिर एकाकी रह गया हूँ । सोचता हूँ—निश्चय ही इस विश्वासघात का मूल कारण श्रमहीनता की भावना है, जो समाज के लिए विष-बेलि से भी अधिक भयंकर है।

युवती का वाक्य अब भी कानों में गूँज रहा है —

"यस, इट इज माई बिजिनेस ।"

कर्तव्य का उपहार

लाखन सिंह नामक छात्र को राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत किए जाने का समाचार कई पत्रों में छप चुका है। पर, उसे किस कार्य के उपलक्ष में पुरस्कृत किया गया, तथा उसका व्यक्तिगत परिचय क्या है, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। संयोग और संस्कार की वह विचित्र घटना इस प्रकार घटी थी—

पिछले दिनों सोनपुर के मेले में लाखन सिंह ने एक युवती की लाज-रक्षा की थी। यह युवती पास के गाँव से मेला देखने गई थी। उसकी सुन्दरता की प्रशंसा से सारा मेला गूँज उठा था। लोगों का कहना था कि आज तक वैसी सुन्दरी युवती उस सारे जनपद में नहीं पैदा हुई थी।

जिस समय वह अपनी बैलगाड़ी से जमीन पर उतरी, देखने वाले देखते रह गए। वृद्धों ने उस बाला को बेटी कह कर पुकारना चाहा, प्रौढ़ों के मुँह से वाह-वाह निकल गया, और युवकों के बीच खलबली मच गयी।

उसका पहनावा बड़ा ही आकर्षक था। सुन्दर सुकुमार शरीर पर रंग-बिरंगी पोशाक कहर ढा रही थी। वह अपनी यौवन-निधि से बेहोश हुई, जिस समय मेले में घुसी, भीड़ उसके पीछे दौड़ पड़ी। वह एक-एक दूकान निहारती, कुछ लेती-देती, एक चूड़ी वाले की दूकान पर पहुँची। चूड़ी वाला शोहदा था। युवती उसकी आँखों में चढ़ गई। वह प्रेम से बोला

"ये फिरोजाबादी चूड़ियाँ पहली बार इस मेले में आई हैं, सरकार! आइये, पहना दूँ।"

क्या शहरी, क्या ग्रामीण, सभी युवतियाँ चूड़ियों के पीछे पागल रहती हैं। नवबाला खड़ी हो गई। उसने ललचाई आँखों से चूड़ियों की ओर देखा। चूड़ीवाला आगे बढ़ा। पीछे खड़ी भीड़ में एक लहर लहरा उठी। शोहदे ने युवती की कलाई पकड़ी ही थी कि युवती ने झट पैंतरा बदल कर चाकू निकाल लिया और शोहदे की कलाई पर भरपूर वार कर दिया।

फिर क्या था ! पूरी गली में हंगामा मच गया । अफवाहें उड़ीं और लोग इधर-उधर भागने लगे ।

उस हंगामे के बीच कूद कर जिस बहादुरी के साथ लाखन सिंह ने युवती की रक्षा की, वह मेले की चर्चा का विषय बन गया और कालान्तर में लाखन सिंह को उसकी उस वीरता के उपलक्ष में राष्ट्रपति की ओर से सम्मानित किया गया था ।

× × × × × ×

घटना वाली युवती कुशलपुर के ठाकुर की बेटी थी । वह गाँव वालों के साथ मेला देखने आई थी । उस शाम को लौटने पर जब मेले में हुए हंगामे की चर्चा घर पहुँची तो युवती का भाई मलखान सिंह व्याकुल हो उठा । उसने यह भी सुना कि एक युवक ने उसकी बहन की लाज बचाई है । तब से वह उस युवक का पता लेने के लिए बेचैन रहा करता था ।

उस दिन अखबारों में जब उसने पढ़ा कि उस दिन के हंगामे में वीरता दिखाने के लिए लाखन सिंह नामक युवक को पटना के एक समारोह में शिरोपा भेंट किया गया है, तो वह लाखन सिंह से मिलने के लिए चल पड़ा ।

जिस समय मलखानसिंह ठाकुर विशेसर सिंह की हवेली के सामने पहुँचा, भौचक्का सा रह गया । विशेसर सिंह छोटे-मोटे राजा के समान थे । उनकी हवेली में ड्योढ़ी लगती थी । दीवानखाने में पूरा दरबार बैठता था । जिस समय मलखान सिंह ने दरबार में प्रवेश किया, बीसों भोजपुरिये सरदार बैठे थे । मलखान सिंह ने राम जुहार किया । ठाकुर ने युवक मलखान सिंह के वृषभ कन्धों को देखा । उसकी भोली-भाली आकृति को निहारा तो उनका मन प्रफुल्लित हो उठा । उन्होंने प्रश्न किया—

"तुम कौन हो बेटा ?"

"मैं आरा जिले के कौशलपुर का निवासी चन्द्रवंशी ठाकुर हूँ ।"

"सो तो तुम्हारी आकृति ही बता रही है ।" कहते हुए उन्होंने मलखान सिंह को अपनी बगल में बैठा लिया ।

उसके आतिथ्य का भार ठाकुर ने अपने युवा पुत्र लाखन सिंह पर डाला । लाखन सिंह बहुत ही होनहार युवक था । ऊँची पूरी देह, स्वस्थ

उभरा वक्ष, साँवली मुस्कराती जवानी, हँसता दिल, इठलाती उमंगें। मलखान सिंह लाखन सिंह को देखकर मन ही मन गद्-गद् हो उठा। बहन के लिए वह लाखन को सर्वश्रेष्ठ वर अनुभव कर रहा था। लेकिन यह कैसे सम्भव था कि उसकी मनोकामना पूरी होती ! वह एक साधारण परिवार का युवक था। माँ बचपन में चल बसी थी और पिता ने सन्यास ले रखा था। घर पर कुल बीस बीघा खेत थे और एक छोटा सा मकान, बस। मात्र इतने से बहन का विवाह किसी राजघराने में कैसे होता ?

"किस चिन्ता में हो ठाकुर ?"

घुड़साल का निरीक्षण करते समय मलखान सिंह ने अपना दिल उड़ेल कर रख दिया।

लाखन सिंह बोले—"ददुआ से कुछ चर्चा की आपने ?"

"नहीं।"

"तो एक उपाय करो।"

"क्या ?"

"ददुआ को अपने यहाँ निमन्त्रित कर दो।"

"मेरे उस नन्हें से घर को देखकर ददुआ क्या, सम्बन्ध स्वीकार करेंगे ?"

"सच्चे ठाकुर केवल ठकुराई खोजते हैं। हम बनिया, अग्रवाल, कायस्थ या ब्राह्मण नहीं हैं जो धन के पीछे पागल रहें। हमारे पास कमी ही किस बात की है। हमारे घर की रीति वही पुरानी है। हम तो अपनी वंश-मर्यादा के अनुसार शुद्ध क्षत्रिय ढूँढ़ते हैं।"

देर तक तर्क-वितर्कों से आश्वस्त होकर, संध्या समय मलखान सिंह ने लाखन के पिता को अपने घर चलने का निवेदन किया। ठाकुर विशेसर सिंह ने स्वीकृति दे दी।

जिस समय मलखानसिंह घर वापस आया, बहन ने उत्सुक नेत्रों से भाई की ओर देखा। भाई के चेहरे पर खेलती मुस्कराहट को देखकर उसका रोम-रोम बिहँस उठा।

पास-पड़ोस में चर्चा चल पड़ी। ठाकुर साहब के कुशलपुर में पधारने का सम्वाद पाकर वहाँ की जनता गद्गद् हो उठी। आने के तीन दिन पूर्व

सम्पूर्ण ग्रामवासियों ने इकट्ठे होकर मलखान सिंह को आश्वासन दिया कि हम इस अवसर पर अपने को एक परिवार समझेंगे।

जिस दिन ठाकुर कुशलपुर पधारे, ग्रामवासियों ने अपने अतिथि के लिए पलक-पाँवड़े बिछा दिये। मार्ग में पुष्पवर्षा की गई। युवकों ने उनकी सादर अभ्यर्थना की। युवतियों ने मंगल-गान गाये, वृद्धों ने आशीष दिया, और वृद्धाओं ने युवक लाखन सिंह पर पीले चावलों एवं पुष्पों की वर्षा की।

सन्ध्या को भोज हुआ। पूरी बिरादरी की बैठक थी। ठाकुर विशेसर सिंह इस ठकुराई को देखकर प्रसन्न हो गये। रात्रि बेला में मलखान सिंह ने ठाकुर के कर-कमलों में नारियल भेंट किया। ठाकुर ने अपने पुत्र लाखन की ओर देखा। लाखन ने संकोच से सिर नीचा कर लिया।

पूरे दो दिन तक ठाकुर की आवभगत होती रही। दूसरे दिन सन्ध्या की अरुणिमा में जिस समय साले और बहनोई गाँव के बाहर बगीचे में सैर कर रहे थे, मलखान सिंह जानबूझ कर उससे अलग हो गये। उनके साथ ही रही-सही अरुणिमा भी अस्ताचल की ओर चली गई। कुमुदिनी ने अपना कोश खोल देने के लिए व्यग्रता दिखायी। कमलों के कोश सुप्त होने लगे। ठीक उसी समय लाखन सिंह ने देखा,—बगीचे की हरियाली के बीच मानस-मराली की गति से चलती हुई एक नवबाला, अपने आँचल में धीरे-धीरे पुष्प चुन रही है।

लाखन सिंह की आँखें हठात् उस ओर उठ गईं। उधर नवबाला भी सभीत मृगी की भाँति इधर-उधर देखने लगी थी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे जनकराज के उपवन में भ्रमण करते समय भगवान रामचन्द्र की सीता से देखा-देखी हो उठी हो।

नवबाला न आगे बढ़ पा रही थी, न पीछे। उसके नेत्रों की प्यास बढ़ती जा रही थी। इधर लज्जा, मर्यादा और कुलशीलता बाग की बीथियों पर खड़ी-खड़ी इस अनूठे मिलन में बाधा उपस्थित कर रही थी।

लाखन सिंह ने देखा—युवती की आकृति मलखान सिंह से बिलकुल मिल रही है। उन्हें यह समझते देर न लगी कि कुशलपुर के उपवन में अकेली घूमने वाली यह नवबाला कौन है। वे आगे बढ़े, ठिठके, फिर बढ़े। इस तरह

योजन जैसे उन दस पगों की दूरी तय कर के जब वे बिलकुल पास पहुँच गये तो उनकी आँखें सौन्दर्य की उस अलौकिक प्रतिमा पर हठात् स्थिर हो उठीं। उधर, उस बाला की आँखों को लज्जा ने अपने हाथों मूँद दिया। मर्यादा ने उसके पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं और कुलशीलता ने उसे अपने बाहुपाशों में कस लिया; ताकि वह अधीर हो कर आगे न बढ़ सके।

समस्त उपवन में एक मीठी सिहरन उत्पन्न हो उठी। कलियाँ चिटक-चिटक कर उस वातावरण में मिठास भरने लगीं। लतायें आस-पास के वृक्षों को कस कर आलिङ्गन करने लगीं। खिले हुए पुष्प पराग बिखेरने लगे और डालियाँ जमीन चूमने को विकल हो उठीं।

लाखन सिंह ने संयत स्वर में पूछा—"आप!"

"यह मेरी बहन रागिनी है, ठाकुर!" कहते हुए मलखान सिंह सामने आ गये और लाखन सिंह को देखने लगे।

"मेरी ओर इस तरह क्यों देख रहे हो, भाई! मैंने किसी प्रकार की अभद्रता नहीं की है।"

मलखान सिंह मुस्करा उठा, "तुम और अभद्रता! असम्भव। मैं तो इस बात पर आश्चर्य कर रहा हूँ कि तुमने अभी तक मेरी बहन को पहचाना क्यों नहीं।"

"आखिर मैं पहचानता भी, तो कैसे?"

"तुम्हीं ने तो इसकी लाज बचाई थी, ठाकुर!"

"मैंने?"

"हाँ, आपने। गत वर्ष सोनपुर के मेले में जिस कन्या के पीछे आप प्राणों पर खेल गये थे तथा जिसके लिए राष्ट्रपति ने आपको शिरोपा भेंट किया है, वह कन्या यही है ठाकुर! अपने परिवार में हम केवल दो भाई-बहन हैं।"

मलखान सिंह को गले से चिपकाते हुए लाखन ने कहा,—"कितनी आश्चर्य की बात थी कि मेरे लाख प्रयत्न करने पर भी उस समय यह पता न लग सका कि वह युवती कौन थी।"

"इसे तो जान-बूझ कर छिपाया गया था, क्योंकि इसमें भले घर की

लाज का प्रश्न निहित था। अच्छा भाई, अब मैं अपनी बहन को यह बता देना चाहता हूँ कि उसे उसकी लाज और सम्मान का रक्षक मिल गया।" मलखान सिंह ने कहा।

उसके पश्चात लज्जा ने रागिनी के नेत्रों को संकोच मुक्त कर दिया। मर्यादा ने अभयदान दे कर अपना रास्ता पकड़ लिया और कुलशीलता ने भी आशीर्वाद के उपरान्त अपने को वहाँ से हटा लिया।

लाखन सिंह बोले—"यह मेरा अहोभाग्य है ठाकुर! आज से तुम सही अर्थ में मेरे बड़े भाई हुए।"

मलखान सिंह ने कहा—"मैं बहुत गरीब हूँ।"

"अब इसकी चर्चा न करो। ददुआ तुम्हारा नारियल स्वीकार कर चुके हैं, उस ओर से बिल्कुल निश्चिन्त रहो।"

मलखान सिंह ने अपनी बहन की ओर देखते हुए कहा, "रागिनी! …………मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। लो,………लाखन के गले में जयमाल डाल दो।" फिर लाखन से बोले—"मैं घर चलकर तुम दोनों के स्वागत का प्रबन्ध करता हूँ।"

रागिनी ने अपने आँचल से एक मोटा-सा गजरा (माला) निकाला। लाखन सिंह ने गर्दन झुका कर गजरा धारण कर लिया। रागिनी आँचल में बचे हुए पुष्पों को लाखनसिंह के चरणों में डालते हुए झुककर कुछ कहने को हुई; किन्तु गद्गद् स्वर अपने में ही उलझ कर रह गया।

लाखनसिंह ने उसे बीच में ही रोकते हुए कहा, "अब मुझे अधिक लज्जित न करो प्रिये! मैं तो तुम्हें अपनी जीवन-सङ्गिनी बनाने को उसी दिन से बेचैन हूँ।"

ठीक उसी समय उपवन के दरवाजे से कुशलपुर की युवतियों का एक चंचल समूह मस्तक पर प्रज्वलित दीपमय मङ्गल कलश धारण किये, मधुर-गीत गाते हुए निकला—

"पिया मिलन को चली सुहागिन"

और, लाखन खड़ा सोच रहा था—कर्तव्य चाहे जितना कठिन हो, जीवन को पूर्णता उसी से मिलती है।

स्त्री और पुरुष

आबकारी का दफ्तर—

प्रधान लिपिक बाबू श्रीगोपाल ने आते ही कोट उतार कर खूँटी पर टाँग दिया और कमीज के बटन खोल कर पंखे को अपनी ओर घुमाते हुए, कुर्सी पर बैठ गये। सामने फाइलों का ढेर रखा था, जैसे उनके श्रम का आह्वान कर रहा हो। थोड़ी देर तक दम ले चुकने पर—जब गर्मी कुछ शांत हुई—कलम उठाई और एक-एक कागज पर हस्ताक्षर करने आरम्भ किए। लगभग आधे घण्टे बाद उन्होंने घण्टी बजाई। बाहर बैठा चपरासी हाथ बाँध कर सामने आ खड़ा हुआ—"जी, बाबू जी!"

नाक पर सरक आए चश्मे को थोड़ा ऊपर सरका कर उन्होंने उसकी ओर देखा और कहा—"छोटे बाबू को बुला लाओ।"

चपरासी नतमस्तक होकर तुरन्त ही लौट गया।

एक टिप्पणी कुछ अस्पष्ट थी। आदत के अनुसार श्रीगोपाल जी पैर हिलाते हुए उसका अर्थ सोचने लगे। कलम से सिर खुजलाया, तर्जनी से ठोढ़ी का स्पर्श किया, जम्हाई ली, अँगड़ाई ली और फाइल को इधर-उधर पलट कर भी देखा; पर टिप्पणी का अर्थ समझ में नहीं आ सका। वह ज्यों का त्यों गूढ़ प्रश्न बनी उन्हें उलझाए रही। ठीक इसी समय उनके सहकारी ने—जिसे उन्होंने चपरासी से बुलाया था—कमरे में प्रवेश किया। उसे देख कर कुछ सन्तोष हुआ। बोले—"देवेन्द्र! देखो तो, बनर्जी ने क्या लिख मारा है? कुछ समझ में ही नहीं आता।" और टिप्पणी वाला कागज उसकी ओर बढ़ा दिया।

देवेन्द्र एक स्वस्थ और सुन्दर युवक था। आयु अभी तीस के लगभग रही होगी। पहली ही दृष्टि में विश्वास हो जाता था कि अवश्य ही यह एक मेधावी व्यक्ति है। उसकी कार्यपटुता और लगनशील स्वभाव से बड़े बाबू

बहुत ही सन्तुष्ट रहते थे। यहाँ तक कि उसे अपना सहकारी न समझ कर छोटा भाई जैसा मानते थे।

कागज को थोड़ी देर तक गौर से देख कर देवेन्द्र ने कहा—"जी ! इसका अर्थ है कि लाइसेंसदार के आचरण की जाँच होनी चाहिए।"

"आचरण की या आफिस रिकार्ड की ?" श्रीगोपाल जी ने अपना भ्रम बताया।

"जी नहीं, आचरण की। 'रिकार्ड' का भाव यहाँ आचरण से ही है अर्थात् उसका कैरेक्टर।" देवेन्द्र ने पूरी टिप्पणी की व्याख्या करके उसमें अपने अर्थ का सामञ्जस्य सिद्ध कर दिया।

"ओह ! क्या ऊटपटांग लिख डालता है यह इन्सपेक्टर।"

"जी, बंगाली है न !" कह कर देवेन्द्र मुस्कराया।

जैसे कोई भार टल गया हो, इस प्रकार की निश्चिन्त साँस लेकर बड़े बाबू ने डिबिया देवेन्द्र की ओर सरका दी। उसमें दोहरा—सुपारी, कत्थे का सम्मिश्रण—भरा हुआ था। देवेन्द्र ने आशय समझ कर दो मात्रायें निकालीं। एक बड़े बाबू को, एक स्वयं को। यह उनके पारस्परिक स्नेह पर घनिष्टता का एक आवरण हो जाता था। वे पान नहीं, इसी 'दोहरा' के प्रेमी थे, और यहाँ तक कि दिनभर में बीस बार तक उसका प्रयोग करते थे। एक ही लत वाले परस्पर मित्र होते हैं, यह उनके 'दोहरा-सेवन' को देख कर स्पष्ट हो जाता था।

दोहरा खाकर देवेन्द्र ने उठते हुए कहा—"जी, अब चलूँ न ?"

लेकिन बड़े बाबू ने पारिवारिक प्रसंग छेड़ दिया—"हाँ, तो देवेन्द्र ! तुम अकेले कब तक रहोगे ? अब बहू को ले आओ न ! सुना है, आज कल वह नौकरी से एक लम्बी छुट्टी लेकर अपने मायके में ही है। फिर, अब तो तुम्हें मकान भी अच्छा मिल गया है।"

देवेन्द्र का चेहरा हतप्रभ हो गया। इस प्रसङ्ग के भीतर निहित कटुता ने उसके मन को झकझोर दिया। उसकी मनोशान्ति भङ्ग हो गयी और एकदम से अस्त व्यस्त-सा होकर उसने कहा—"अभी कुछ परेशानियाँ

हैं बाबू जी ! फिर कभी देखा जायेगा।" और उसके अन्तस् का बवन्डर एक दीर्घ निःश्वास के रूप में प्रकट हो गया।

"आखिर क्या परेशानी है ! किस उत्साह से तुमने कल्पना जैसी लड़की के साथ विवाह किया और अब उसी को साथ रखने में बताते हो— परेशानी है। ऐसा तो मैंने कहीं नहीं देखा कि प्रेम-विवाह के तुरन्त बाद से ही पति-पत्नी अलग रहें और वह भी सम्पन्न शिक्षित होकर। परेशानी तो दूर भी की जा सकती है न !"

"जी ! बात यह है कि..............।"

"हाँ, हाँ, कहिए न ! क्या बात है ?"

बहुत ही शिथिल होकर देवेन्द्र ने कहा—"बाबू जी ! आप मुझे क्षमा कीजिए। वह सब कुछ ऐसा गोपनीय और लज्जास्पद प्रसंग है कि कहते नहीं बनता।"

"वाह रे संकोचमूर्ति ! आज तुम्हारा यह नया रूप देखा मैंने। मैं कहता हूँ—अब मैं तुम्हारे लिए गैर हो गया ?" भर्त्सना और उपालम्भ के स्वर में श्रीगोपाल जी बोले।

"जी नहीं, बात यह है कि मैंने आप के साथ भी अपना कर्तव्य पूरी तरह से नहीं निभाया। अपनी पारिवारिक स्थिति की बाबत मैंने जानबूझ कर आपको अँधेरे में रखा था। अब उसी को प्रकट करने का साहस नहीं हो रहा मुझ में। वह सब सुन कर आप मुझ से घृणा करने लगेंगे। उसे न पूछिए बाबू जी !"

"अब तो जरूर पूछूँगा और वादा करता हूँ कि यदि सब कुछ सच-सच बता दोगे, तो तुम्हें जितनी घृणा की आशङ्का है, उतना ही मैं तुम पर प्रसन्न होऊँगा।"

"जी बात यह है कि कल्पना ने अब मेरे साथ रहने से इन्कार कर दिया है।"

"अच्छा !!" घोर आश्चर्य से बड़े बाबू की आँखें फैल गईं।

"जी ! मैंने उसके साथ भी छल किया था और उस भेद को जान कर वह तब तक मेरे पास नहीं आना चाहती जब तक कि मैं उसकी इच्छानुसार प्रायश्चित न कर लूँ।"

एक साँस खींच कर बड़े बाबू ने सामने की फाइल एक ओर को सरका दी और कहा—"इतना रहस्यमय जीवन है तुम्हारा ! खैर, बताओ तो, तुमने क्या अपराध किया था और उसका प्रायश्चित क्या है ?"

एक क्षण को चुप रह कर—जैसे मानस की अस्थिरता पर संयम कर रहा हो—देवेन्द्र ने कहना आरम्भ किया—

"इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मेरी बी० ए० की क्लास फेलो वह छोटे कदवाली गौरवर्णा 'कल्पना' वास्तव में कल्पना से परे थी। सहशिक्षा का प्रभाव मनुष्य के ऊपर पड़ कर ही रहता है। कुछ दिनों बाद हम दोनों प्रेमपाश में बँधने से अपने को न रोक सके।

इससे भी पहले जब मैं इण्टर में पढ़ रहा था, तभी मेरा विवाह आनन्दपुर के रईस की पुत्री रन्नो के साथ हो चुका था। वह अपने पिता की इकलौती सन्तान थी। जब वह छोटी ही थी तभी उसकी माता अपनी उस इकलौती पुत्री को सदा के लिए छोड़कर स्वर्गवासी हो गयी।

अब घर में थे केवल बाप और बेटी। लाड़प्यार तथा ग्रामीण वातावरण के कारण उसकी विशेष शिक्षा न हो सकी। पूरी जायदाद रन्नो के ही नाम थी। विवाह के बाद वह ससुराल आई। वहाँ उसने अपनी सेवाओं से सभी को सन्तुष्ट कर लिया। मुझको तो वह प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। फिर भी निरक्षरता के कारण मेरा मन उसमें न रम सका।

इसके कुछ ही दिनों बाद मैंने कल्पना के रूप पर रीझ कर, अपने को अविवाहित बता कर उसके साथ प्रेम विवाह कर लिया। कल्पना के पिता जोशी बाबू ने हमारे विवाह पर पूर्ण सन्तोष प्रकट किया था।

एम० ए० करने के पश्चात् कल्पना समाज कल्याण विभाग में मुख्य सेविका हो गयी और वहीं दफ्तर के पास मकान लेकर रहने लगी। अवकाशों में मैं स्वयं उसके पास आया-जाया करता था।

उन दिनों मैं नहर विभाग में सर्विस कर रहा था। रन्नो मेरे पास रहती थी। उसे कल्पना का भेद नहीं मालूम था। मैं उससे छिप कर ही सारा पत्र-व्यवहार आदि करता था। एक दिन हम दोनों घूमने जाने को तैयार हुए। मैं अपना बक्स खोले कपड़े निकाल ही रहा था कि रन्नो सुसज्जित

होकर आ गई। तभी किसी ने मुझे दरवाजे से पुकारा। मैं बाहर चला गया। इसी बीच रन्नो की निगाह एक पत्र पर पड़ी। उसने उसे उठा लिया। वह पत्र कल्पना का था। पूरा पत्र पढ़ कर मेरे और कल्पना के प्रणय सम्बन्ध से वह भली भाँति परिचित हो गई, फिर भी उस दिन वह कुछ नहीं बोली, और मेरे साथ घूमने चली गई। उसका चेहरा कुछ उदास अवश्य था, पर मैंने समझा कि थकान के कारण ऐसा होगा। मेरा भेद यह जान गयी है इसकी मैंने कल्पना तक नहीं की।

अन्ततः एक दिन प्रसंगवश उसने हँसी-हँसी में सब कुछ कह ही डाला। तब से वह निरन्तर बेचैन रहती थी। उसके मन में एक प्रकार की ज्वाला-सी उठा करती थी। कुछ दिन बाद उसके पिता आये और वह उनके साथ अपने मायके चली गई।

एक दिन वही मुख्य सेविका कल्पना 'जिला समाज-कल्याण-केन्द्र आनन्दपुर' का निरीक्षण करने गयी। गाँव के प्रधान के दरवाजे जीप रुकी। वहाँ कल्पना ग्रामीणों से अपनी विभागीय बातें करती रही। तब तक सरपंच के यहाँ से बुलावा आया। वार्ता समाप्त कर वह क्राफ्ट टीचर के साथ उनके घर गयी। उसके लिए आँगन में एक चारपाई डाल दी गयी थी। उसके बैठ जाने पर प्रधान की लड़की जलपान का सामान लेकर आई। वह रन्नो थी। उसका मलिन वेश और चिन्ताग्रस्त मन देख कर कल्पना सन्न रह गई। वह बहुत ही कृश थी। उसकी आखें पीली हो गईं थीं। जान पड़ता था—क्षयरोगिणी है।

जलपान के बाद बातों ही बातों में कल्पना ने उसके जीवन की समस्या जान ली थी, पर उसने वहाँ कुछ प्रकट नहीं किया और चुपचाप लौट गई। तभी से मेरे उसके बीच दीवार खड़ी हो गई है। उसने पत्र तक देना बन्द कर रखा है।

हार कर मैं होली के अवकाश में मिलने गया। वह मिली तो, पर भेंट होते ही उसने सभी बातें कह डालीं। मैं जड़-सा खड़ा रह गया। जिस भेद को इतने दिनों से छिपाए था, उसे स्वतः प्रकट हुआ देख कर मेरा धैर्य जाता रहा। मेरी दुर्बलताओं को लक्ष्य करके कल्पना ने कहा—

"मैं महिलाओं का कल्याण करने के लिए नियुक्त की गई हूँ, न कि मेरे द्वारा ही किसी का सर्वनाश हो। आपने अपने को अविवाहित बता कर मुझे धोखा दिया है। इसके बदले मैं आप से सर्वदा के लिए सम्बन्ध विच्छेद ही उचित समझती हूँ। प्रायश्चितस्वरूप मैंने एक लम्बी अवधि की छुट्टी ले ली है। पता नहीं, उसके उपरान्त नाव किस किनारे लगे। साथ ही यह भी कहे देती हूँ कि यदि आप शीघ्र ही जाकर रन्नो को बिदा नहीं करा लाते तो इसका परिणाम भयानक हो सकता है। आप के विरुद्ध धोखेबाजी का मुकदमा भी चल सकता है।"

इस प्रकार कल्पना तो मुझे फटकार कर चली ही गयी, उधर मेरे ससुर महोदय भी इतने क्रोधित हैं कि रन्नो को मेरे पास भेजने को राजी नहीं होते। अब आप ही बताइए, मैं क्या करूँ?"

एक दीर्घ निःश्वास लेकर बाबू श्रीगोपाल ने कहा—"तुम्हें अभी अनुभव नहीं है देवेन्द्र। भारत में लवमैरिज निन्नान्नबे प्रतिशत से भी अधिक असफल रही है। खैर जो भी हुआ, जाने दो। नर और नारी गृहस्थी के ही नहीं, सृष्टि के भी पूरक हैं। इनको प्रत्येक क्षेत्र में समान गति से चलते हुए परस्पर सहयोग करना चाहिए। बिना इसके स्त्री और पुरुष के बीच अविश्वास की दीवार बढ़ती ही रहेगी।

छलना

●

"बस, यही ताश खेला करोगे तुम लोग या कुछ अपने आगे-पीछे की भी सोचोगे ?" कमरे में सहसा मेघ गर्जन-सा हुआ।

बाजी गर्म थी। पूर्ण मनोयोग और उत्साह के साथ चालें चली जा रही थीं। खेल सुबह से प्रारम्भ हुआ था और अब दुपहर ढल चुकी थी; पर दोनों खिलाड़ी इस तरह तन्मय थे; जैसे उन्हें समय-सीमा का कुछ भी ज्ञान न हो।

खेल सादा था। कोई जुआ नहीं, रुपये पैसे के दाँव नहीं; फिर भी ताश का खेल तो था ही! दोनों परस्पर एक दूसरे को पराजित करने की अथक चेष्टा कर रहे थे। प्रत्येक चाल इतनी सावधानी से चली जाती थी जैसे इसके पीछे एक राज्य का दांव लगा हो। तभी अचानक उपर्युक्त गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा। स्वभावत: दोनों के नेत्र ऊपर उठ गये और देखा कि शशिकान्त के भाई श्रीकान्त सरोष मुद्रा में खड़े हैं। शशिकान्त सहसा भाई की ओर देख कर बात नहीं करता था। भूषण ने स्थिति को संभालते हुए कहा—

"भइया, आज तो छुट्टी का दिन है। बुधवार होने के कारण बाजार बन्द है; इसलिए हम लोग जरा-सा मनोरञ्जन करने बैठ गये थे। अब जैसी आज्ञा हो।"

श्रीकान्त मितभाषी व्यक्ति थे। छोटे भाई के प्रति अटूट स्नेह रखते हुए भी, वे उसे अकर्मण्य नहीं होने देना चाहते थे। इधर, भूषण धनी पिता का पुत्र था, जिसे अपने भविष्य के प्रति किसी प्रकार का ध्यान भूल कर भी नहीं आता था। ऐसे साथी का अनुगामी बनना शशिकान्त के लिए कितना अहितकर एवं घातक होगा, इसकी चिन्ता श्रीकान्त को विशेष थी।

अतः जेब से एक कार्ड निकाल कर शशि की ओर फेंक दिया—"लो, पढ़ लो और जो कुछ समझ पड़े, करो।" कहते हुए लौट गये।

आर्थिक परिस्थिति में महत्तम वैषम्य होने पर भी शशि और भूषण अभिन्न मित्र थे। उनकी वैयक्तिक आवश्यकतायें एक दूसरे की थीं। असमानता का भाव कभी भी उन्हें प्रभावित न कर सका था। शशि ने कार्ड को भूषण की ओर बढ़ाते हुए कहा—"देखो, भाई! क्या है इसमें, जिसके लिए भइया इतने अधीर हो उठे!"

भूषण ने सरसरी नजर से उसे पढ़ डाला। केवल कुछ पंक्तियाँ थीं जिनका आशय था कि लक्ष्मी की दशा चिन्ताजनक है, उसे स्वास्थ्य-लाभ के निमित्त पहाड़ पर ले जाना आवश्यक है। ऐसी दशा में रूपा को वहाँ से मँगा लिया जाये। कारण, वह वहाँ अकेले ही रह जायगी। यह पत्र शशिकान्त के साले ने लिखा था। लक्ष्मी उसकी साली और रूपा उसकी पत्नी थी। लक्ष्मी को यक्ष्मा ने प्रायः एक साल से पीड़ित कर रखा था। उसी की परिचर्या निमित्त रूपा भी वहीं थी। अब पहाड़ पर जाने के लिए केवल लक्ष्मी और उसका भाई अवधेश ही सपत्नीक काफी समझे गये। इसलिए उसने पत्र द्वारा श्रीकान्त से अनुरोध किया कि वे रूपा को बुला लें।

शशि अपनी स्वतन्त्रता एवं भावुकता में अपने भाई के सम्मान को किसी भी प्रकार फीका नहीं होने देता था। वैसे, पिता का देहान्त बचपन में ही हो गया था, किन्तु उस स्थान के अभाव की पूर्ति वह श्रीकान्त में ही समझता था। इधर, श्रीकान्त ने भी एक छोटी सी सर्राफे की दूकान के सहारे शशि को एम० ए० कराया था। अपनी स्त्री को असन्तुष्ट करके भी वह भाई के तेवर मैले न होने देता था। स्वयं साधारण कुर्ता धोती में जाड़ा बिता देता, किन्तु शशि के लिए सर्ज के सूट की व्यवस्था अवश्य करता। शशि के स्वभाव में कवित्व पाया जाता था, जिसका मूल उसकी भावुकता थी और उसी के प्रभाव में पड़ कर वह अभी तक भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त या अकर्मण्य-सा लगता था।

शशि ने भूषण की ओर देखते हुए कहा—"भाई! मेरी अकर्मण्यता अब सीमा पर जा चुकी है। इस पर माता जी व भाभी जी का मेरे प्रति

झींकना भी स्वाभाविक ही है। भइया को तो न जाने भगवान ने इतना दयालु कैसे बनाया है कि वे कभी भी मुझे कुछ नहीं कहते। किन्तु अब देखता हूँ कि मुझे अपना सुधार करके स्वावलम्बी बनना ही चाहिए। आखिर, भइया कब तक मेरा भार वहन करेंगे!"

भूषण का घर कई पीढ़ियों से धनी था। भले ही वह शशि को मित्र मानता था, किन्तु उसकी प्रकृति स्वभावतः उच्छृंखल और निश्चिन्त थी। उदार और सौन्दर्य-प्रिय होने के साथ-साथ वह सहज विश्वासी भी था। पड़ोसी उसे "सनकी रईस" कहते थे। जमी हुई ताश की बाजी में उसे शशि की यह गम्भीरता अच्छी न लगी; फिर भी उसने कहा—"हाँ यार, बिना कुछ अपने हाथों पैदा किये, यह पढ़ना-लिखना बेकार ही समझा जाता है। ठीक है, मैं भी या तो कोई नौकरी करूँगा या कोई फर्म चलाऊँगा और उस फर्म में तुम्हें मेरे साथ रहना होगा। हाँ, देखो·········यह मेरी बीबी सर हो रही है।" उसने खेल में आए हुए विराम को हटाने की चेष्टा की।

किन्तु शशि की मनोदशा बदल चुकी थी। खेल में पुनः उसका मन न लग सका। पत्ते समेटते हुए उसने कहा—"अब मन नहीं लग रहा है खेल में। मेरी राय में तो तुम भइया के साथ वहाँ चले जाओ और विदा करा लाओ। मैं यहीं रहूँगा। चलो, भइया से बात की जाय।"

श्रीकान्त इस बार अभूतपूर्व गम्भीरता धारण किए हुए थे। भूषण से वे आन्तरिक रूप से असन्तुष्ट थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि एक पुश्तैनी धनाढ्य का लड़का हमारी स्थिति का वास्तविक ज्ञान कैसे कर सकता है! उसे द्रव्योपार्जन की चिन्ता नहीं हो सकती और उसके साथ रहकर वैसी ही मनोवृत्ति शशि की भी हो जाय, तो इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी उदासीनता के आवेश में उन्होंने कह दिया—"मैं न जा सकूँगा। तुम जाकर बिदा करा लाओ। इसके बाद घर की ओर भी देखो। मैं माता जी को लेकर छः महीने के लिए तीर्थ यात्रा पर जाऊँगा। इस बीच में दूकान तथा घर की व्यवस्था में कोई ढिलाई न आने पावे, इसका तुम्हें ध्यान रखना होगा। गौने के बाद रूपा अबकी प्रथम बार यहाँ आ रही है; अतः मेरे लौटने तक उसे भी कम से कम हजार बारह सौ का सामान बनवा देना। यात्रा से लौट कर

यदि तुम्हारी स्थिति में मुझे कुछ सुधार न दिखाई दिया तो मैं निश्चय ही परिवार त्याग कर संन्यास ले लूँगा; फिर चाहे जो करना।" और इसके पश्चात् बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए ही वे बाहर चले गए।

दोनों मित्रों को भीतर से आती हुई ध्वनि सुनाई पड़ी। भाभी कह रही थीं—"लल्ला को न जाने क्या हो गया है। और नहीं तो कम से कम अपने खर्चे के लिए तो कुछ करें! वैसे मेरे न बेटी है, न बेटा; सब उन्हीं का है। पर उनके बाल-बच्चों को क्या होगा, भगवती जगदम्बा जाने।"

माँ का स्वर कुछ तीव्र था—"भगवती जगदम्बा तो जानती ही हैं, मैं भी जानती हूँ। लल्ला को भीख तक माँगे न मिलेगी। तुम और श्रीकान्त ने ही इसे सिर चढ़ा रखा है। मेरा बस चले तो इसे निकाल बाहर करूँ। तुमने पेट काट कर इसे पढ़ाया-लिखाया और अब यह निठल्ला बना घूमता है। परसों बड़े से कह रहा था कि मुझे एक मोटर साइकिल ले दो। उन्होंने वादा भी कर लिया है। भला यह भी कोई प्यार है!"

शायद माँ थक कर चुप हो गई थीं। काफी तर्क-वितर्क के बाद शशि ने स्वयं जाने का निश्चय किया और साथ में भूषण को भी चलने के लिए राजी कर लिया।

शशिकान्त की ससुराल शहर से पाँच मील दूर कस्बे में थी। रास्ता पक्का किंतु बेमरम्मत था। यातायात का साधन एक लारी और कुछ इक्के थे। लारी जा चुकी थी। इन लोगों ने इक्का किया और किसी प्रकार खटर-पटर करते हुए पाँच बजे शाम को गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये।

अवधेश दरवाजे ही थे। अतिथि सत्कार के पश्चात् लक्ष्मी के स्वास्थ्य की चर्चा चली; फिर काफी देर तक और-और विषयों पर वार्ता होती रही। दोनों अतिथि थके-माँदे थे। भोजनोपरान्त प्रायः १० बजे उन्होंने चादर तान ली।

दूसरे दिन रूपा को विदा कराकर दोनों मित्र वापस आ गए।

+　　　　+　　　　+

श्रीकान्त पत्नी और माता को साथ लेकर तीर्थ-यात्रा पर जा चुके

थे। अब घर में दो ही प्राणी रह गये—शशि और रूपा। भूषण का आना-जाना और भी बढ़ा। कभी-कभी तो वह पूरा दिन ही बातों में बिता देता था। कुछ दिन बाद रूपा भी अपने पति का अभिन्न मित्र होने के कारण भूषण से काफी स्नेह करने लगी। यद्यपि उसका यह स्नेह पुत्रवत् भाव से था; किन्तु उसे समझने में भूषण को भ्रम हो गया। स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। थोड़े दिनों बाद तो ये तीनों इतने घुल-मिल गए कि उन का एक परिवार ही प्रतीत होता था।

प्रेम और भी बढ़ा। भूषण जब कभी शशि के घर जाता, कुछ न कुछ सामान रूपा के लिए अवश्य ले जाता और घण्टों बातें भी किया करता था। रूपा उससे किसी प्रकार का भेद-भाव न रखती थी।

एक दिन सूने घर में रूपा को पाकर भूषण ने उसके सम्मुख एक भयानक समस्या खड़ी कर दी—"............रूपा !"

नाम सुन कर रूपा स्तम्भित हो गई। बोली—"हाँ", मगर झिझक गई।

"क्या तुम मुझमें और शशि में कुछ अन्तर समझती हो ?"

"नहीं अन्तर तो नहीं है; फिर भी........।"

भूषण कुछ निकट आकर बोला—"फिर भी ?........आगे भी कहो रूपा !"

"फिर भी उनके साथ भाँवरें जो हो गईं हैं ! यह अन्तर तो एक बहुत बड़ा अन्तर है, जो परम्परागत समाज में चला आ रहा है। वैसे, तुम दोनों का साथ ईश्वर बनाये रहे।"

"क्या ही अच्छा होता, यदि यह अन्तर भी तुम किसी प्रकार अपने अन्तर से निकाल सकतीं।"

"अच्छा ! अब मैं समझी। आज तक यह जो मैत्री का सुनहरा जाल था, आज तक यह जो अपनत्व की बड़ी ठण्ढी छांव थी; और आज तक यह जो बड़ी घरेलू ममता थी, उसके मूल में यही तुम्हारी वासना छिपी हुई थी ! मालूम हो गया कि पुरुष संसार में कितने धोखेबाज और नारी को कलङ्कित करने वाले होते हैं !"

विद्रोह के कारण रूपा का श्वास-वेग बढ़ गया था। फिर भी, उसने अपने को संभाल कर कहा—"इतने पर भी तुम्हें क्षमा करती हूँ, क्योंकि अभी वे तुम्हारा सम्मान करते हैं। उन्हें तुम्हारी छलना का पता नहीं है। लेकिन मैं भली भाँति समझ गई हूँ कि आरम्भ से ही तुम्हारी आँखों में मेरे प्रति अनुचित एवं वासनामय आकर्षण का भाव रहा है। जाओ; आइन्दा कभी यहाँ आने का विचार न करना, इसी में तुम्हारी कुशल है।"

चाबुक की सी मार खाया हुआ भूषण अपना-सा मुँह लेकर चुपचाप लौट आया। वह फिर कभी रूपा के पास जाने का साहस नहीं कर सका।

प्रायश्चित

पण्डित वीरेश्वर ने अपनी इकलौती पुत्री सावित्री को बी० ए० तक शिक्षा अवश्य दिलाई थी, परन्तु अपनी रुचि सदैव धार्मिक विषयों की ओर होने के कारण उन्होंने उसे संस्कृत आदि विषय दिलवाये थे। बी० ए० उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने उसका विवाह पं० ओंकार नाथ मिश्र जो अवध इण्टर कालेज के प्राध्यापक थे, के साथ बड़ी धूम-धाम से किया।

मिश्र जी बड़े ही सौम्य एवं शिष्ट व्यक्ति थे। विवाह के कुछ ही दिनों पश्चात् उनका स्थानान्तरण लखनऊ को हो गया। दुर्भाग्यश जब वे चार्ज लेने जा रहे थे, एक भीषण ट्रेन दुर्घटना हो गयी। रात का समय था और वे रास्ते के किसी स्टेशन पर पानी पीने के लिए उतरे थे, किन्तु चढ़ते समय पैर फिसल जाने के कारण गिर पड़े। तुरन्त ही उनका बायाँ पैर कट गया और वे बेहोश हो गये। रेलवे पुलिस द्वारा लखनऊ के प्रमुख चिकित्सालय पहुँचाये गये; परन्तु वहाँ भी रक्त प्रवाह बन्द न हो सका। दूसरे दिन वे इस असार संसार को त्याग कर स्वर्गवासी हो गए।

यह घटना जब उनके परिवार को मालूम हुई तो सारे परिवार में वज्रपात सा हो गया। सभी लोग बिलख-बिलख कर रोने-पीटने लगे। बड़ा ही मार्मिक दृश्य था। परन्तु उनकी स्त्री सावित्री ने उस समय धैर्य और संयम से काम लिया। उसने संस्कृत साहित्य में पढ़ा था कि जो प्राणी मरता है उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के रोने-पीटने से मृतात्मा को अतीव कष्ट सहन करने पड़ते हैं। नीति और उपदेश के कितने ही प्रसंग उसके सम्मुख साकार होकर उसे प्रबोधने लगे। रामायण की अनेक चौपाइयों को स्मरण कर उसने पति-विहीन जीवन-यापन को नारकीय यन्त्रणा समझा और अन्ततः सती होने का मन में दृढ़ निश्चय कर लिया; परन्तु घर के लोगों के कारण प्रयोगात्मक रूप देते समय रोक ली गयी। यह नियन्त्रण और भी दुःखद हो उठा। कुछ

समय बीतने पर उसने अपने देवर सतीश को जिसे वह पुत्रवत् मानती थी, बुलाया। यह किशोर उसका एकमात्र आज्ञाकारी और स्नेह-पात्र था। अपनी अन्तर्व्यथा को उसे समझाते हुए विह्वल होकर उसने कहा—"भइया ! यदि आज एक लड़का भी गोद में होता, तो उसी का मुँह देखकर सन्तोष करती। हे भगवान् ! यह जीवन-नौका अकेले कैसे पार लगेगी ?"

यह सुन कर सतीश ने विनम्र भाव से हाथ जोड़ कर कहा—"भाभी ! जिसका १८ वर्षीय पुत्र सतीश सदैव सेवा में प्रस्तुत हो, उसको कभी भी ऐसा न सोचना चाहिए। क्या आप मुझे पुत्रवत् नहीं मानती ? मैंने आपको माता का सम्मान दिया है और आप से पुत्र का स्नेह प्राप्त किया है। इसलिए आपको इतना अधीर न होना चाहिए।"

सावित्री ने आत्म-विह्वल होकर उसे छाती से लगा लिया। अब उसे स्वजात पुत्र के अभाव की वेदना से मुक्ति मिल गयी थी।

मनुष्य परिस्थिति का दास होता है। उसी के कारण वह बनता और बिगड़ता है। धीरे-धीरे सावित्री अपने देवर सतीश से खूब घुल-मिल गई। एक माँ अपने समर्थ पुत्र से जो आत्मीयता पाती है, जब वह उसे प्राप्त हो गयी तो उसका वैधव्य-क्लेश कम हो चला। यद्यपि अन्तर में कभी-कभी पति की स्मृति में प्रच्छन्न-वेदना होती थी, तथापि वाह्य रूप से वह सुखी और सन्तुष्ट थी। किन्तु उन युवा देवर-भाभी का यह सम्बन्ध समाज को अच्छा न लगा। लोग इन दोनों के ऊपर अन्योक्तियों द्वारा कुत्सित विचार प्रकट करने लगे। यहाँ तक कि सावित्री की सास के मन में भी इन दोनों के प्रति सन्देह ने अपना स्थान बना लिया। एक दिन प्रसंगवश जब सतीश को यह मालूम हुआ कि माता जी तथा अन्य पड़ोसियों को हमारे चारित्रिक पतन का विश्वास हो चुका हैं तो उसे महान् दुःख हुआ। आत्म-ग्लानि ने आत्म-हत्या की प्रेरणा दी; किन्तु न जाने क्या सोच कर रह गया। फिर भी इस घटना से उसके मन में एक अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ।

गर्मी की छुट्टियाँ थीं। सतीश ने अपने एक मित्र के साथ नैनीताल जाने का निश्चय किया। समाचार जान कर सावित्री ने भी ससंकोच पहाड़ देखने की इच्छा प्रकट की। असुविधा का प्रश्न सामने था। फिर भी सतीश

ने उसे साथ ले जाना स्वीकार कर लिया। मित्र तो अलग हो गया और ये देवर-भाभी एक छोटा सा बंगला लेकर रहने लगे। दिन भर सैर और विश्राम के अतिरिक्त कोई काम न था। एक दिन सावित्री कहीं घूमने न जा सकी थी। सतीश मित्रों के साथ उछृंखलता पूर्वक घूमता रहा। उनमें एक लखनऊ निवासी तथा एक मथुरा का चौबे था। राय पड़ी, भंग-बूटी छानी जाय। और, कुछ समय के पश्चात् वे सब के सब अपना मानसिक नियन्त्रण खो बैठे। देश, राजनीति और साहित्य के रास्ते होते हुए जब वे १० बजे रात में घर लौटे तो उनकी वार्ता का विषय बिहारी का नायिका भेद था। बूटी की लहरों ने मस्तिष्क को मादक प्रभावों से पूर्ण कर दिया था।

लड़खड़ाते हुए आकर जब सतीश ने अपनी भाभी को पुकारा तो उसका स्वर सहज विकृत-सा था। किवाड़े खुलते ही उसे अपनी भाभी के स्थान पर बिहारी की पर्युत्सुका नायिका देख पड़ी। 'सरस राग रतिरङ्ग' में डूबने की आकस्मिक प्रेरणा ने जैसे अतिशय उत्साहित कर दिया। सतीश का विवेक और पुत्र-भाव न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। उसने अर्धनिमीलित नयनों से सावित्री को सतृष्ण भाव से देखते हुए कहा—"सुन्दरी! देखो आज मैं तुम्हारे लिए अपने को किस प्रकार सजा कर लाया हूँ। आओ………"
"वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही सावित्री दो पग पीछे हट गई। सतीश खड़ा न रह सका। कामुकता और मादकता के सह प्रहार ने उसे धराशायी कर दिया। सावित्री ने हृदय कड़ा करके उसे सँभाला। वह पूर्णतः अचेत था। वायु और शीतल जल से प्रायः आधे घण्टे तक उपचार करने पर उसने आँखें खोलीं। जान पड़ा, कहीं अन्यत्र है। धीरे-धीरे गत घटनायें स्मृति-पटल पर आ गयीं। उसका विवेक जाग उठा था। अब सावित्री के सम्मुख कौन सा मुख दिखाये! चुपचाप प्रायश्चित की भावना से एक ओर चल पड़ा। आत्म-हिंसा उसकी मुख मुद्रा पर उतर आई थी। सावित्री ने आशंकित भाव से कहा—"भइया, कहाँ जा रहे हो इतनी रात में? सुनो तो!"

किन्तु सतीश ने अपने को छुड़ाते हुए कहा—"जाता हूँ अपना मुँह धोने। इसमें जो दाग लग गया है, वह मेरी छाती के रक्त से ही मिटेगा।" और वह तीर की भांति कमरे से बाहर हो गया।

सावित्री ने दौड़ कर उसे पुनः पकड़ लिया और साश्रुनयन बोली—"मेरे लाल ! तुम्हें कौन सा दाग लगा ? दाग तो उस भांग की पत्ती में लगा था जो तुमने पी थी। तुम तो गंगाजल हो। और, इस तरह मुझे छोड़ कर चले जाने से क्या तुम्हारा प्रायश्चित हो जायेगा ? प्रायश्चित प्रतिहिंसा के रूप में नहीं, हृदय से होना चाहिये। यदि प्रायश्चित ही करना चाहते हो तो आज यह प्रण कर लो कि जीवन पर्यन्त किसी प्रकार का कोई नशा सेवन नहीं करोगे, इससे तुम्हारे मन में पुनः ऐसे कुत्सित विचार जाग्रत ही नहीं होंगे।

+ + +

अब, समय एक दीर्घ रेखा को पार कर गया है। सतीश प्रौढ़ हो चला है और उसकी भाभी वृद्धावस्था का भार उठाने जा रही है; किन्तु वैसी दुर्घटना की पुनरावृत्ति फिर नहीं हो सकी। सतीश को प्रायश्चित से जो पुण्य लाभ हुआ उससे उसका तन-मन पूर्णतया निर्मल हो गया है।

बीस बिस्वा की विडम्बना

देहरा एक्सप्रेस दो घण्टे लेट थी। यात्री गण व्याकुल मन से उसका इन्तजार कर रहे थे। कुछ देर बाद सीटी की आवाज सुनायी पड़ी और धड़-धड़ाती हुई ट्रेन प्लेट फार्म पर आ लगी। भीड़ के कारण किसी डिब्बे में तिल डालने तक की जगह न थी। पन्द्रह मिनट ठहर कर गाड़ी धीमी चाल से चलने लगी। शीघ्र ही मैं भी अपना सारा सामान एक जनाने डिब्बे में फेंक कर चढ़ गई। कम्पार्टमेन्ट में चारों ओर नजर डाली। कहीं बैठने की गुंजाइश न थी। कुछ निराशा सी हुई, तभी कोने में बैठी हुई एक युवती ने धीमे स्वर से कहा—"आइए माता जी। बैठ जाइये।"

'धन्यवाद' के साथ मैंने खड़ी रहना ही स्वीकार किया; परन्तु उसके आग्रह एवं सौजन्य ने मुझे बैठने के लिए विवश कर दिया। उसने अपनत्व भरे स्वर में कहा—"माँ ! क्या मैं आपका परिचय पूछ सकती हूँ ?"

मैंने कहा—"अगर तुम इसी जिले की रहने वाली हो, तो 'दिलदिलपुर' गाँव के रामनाथ मिश्र 'धाकड़' का नाम जरूर सुना होगा। मैं उसकी मां हूँ। बीस बिस्वा का कान्यकुब्ज और अपने नियमों का कट्टरता से पालन करने के कारण ही लोगों ने मेरे लड़के का नाम 'धाकड़' रख दिया है।"

'बीस बिस्वा' शब्द सुनते ही वह कुछ चौंकी और साथ ही उसके नेत्र सजल हो आये। उसने अपने को सम्हालने का प्रयास किया; फिर भी मनोवेग न रोक सकी।

मैं आश्चर्य में पड़ गई। सान्त्वना देते हुए उससे रोने का कारण पूछा, तो बोली—"कुछ नहीं माता जी। मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा है कि रोना पड़ता है। वह सब जान कर आप क्या करेंगी ?"

बहुत हठ तथा प्रतिज्ञा करने पर कि उसके निवारणार्थ मैं प्रयत्न अवश्य करूँगी, उसने अपनी आप बीती सुनाई—

"मैं अक्षयपुर गाँव की रहने वाली हूँ। पं० उपेन्द्र नाथ द्विवेदी मेरे

पिता हैं। मेरा नाम राजेश्वरी है। मैं पढ़ने में तेज थी, लेकिन गाँव की प्राइमरी पाठशाला से आगे न जा सकी; क्योंकि समीप में कोई स्कूल नहीं था। धीरे-धीरे मैं १५ वर्ष की हो गई। रामायण, सती अनुसूया, सती सावित्री आदि की पुस्तकों के पढ़ने में मेरा समय बीतता था। उनके उज्ज्वल चरित्र की छाप मेरे ऊपर पड़ी। उन्हीं दिनों मुझे विवाह योग्य समझ कर पिता जी बहुत चिन्तातुर होकर मेरे लिए वर की खोज में निकले।

"गरीबी बड़ी दुखद होती है। पिता जी जिसके भी दरवाजे जाते, चार-पाँच हजार से कम कोई बात न करता। यहाँ घर में गरीबी, उधर कुलीनता का प्रश्न। २० बिस्वा की लड़की अपने से नीचे घराने में कैसे ब्याही जाय ? कान्यकुब्ज नामधारी हिंस्र पशुओं की यही व्यवस्था है और अब तो परम्परा सी बन गई है कि यदि वर मिले तो कुलीन मिले, अन्यथा लड़की तीस-तीस वर्ष तक कुमारी रहे। कुलीन वर तो इन्हीं नर-पिशाचों के यहाँ प्राप्य हैं, जिनका मूल्य असीम है।

"मैं भी जब सावन-भादों की नदी के समान बढ़ कर २६ वर्ष की हो गई, तो बड़ी बेचैन रहा करती, क्योंकि गाँव के कई गुण्डे मेरे पीछे पड़े हुए थे। मैं किसी समय घर से बाहर न निकलती और न मेरे घर 'कमला' नामक मेरी सहेली को छोड़ कर कोई आता। उसकी माँ मुझे बहुत प्यार करती थी। कभी-कभी कमला के साथ मैं उसके घर चली जाती थी। गाँव के गुण्डे राममूर्ति ने न मालूम कैसे, कमला को मिला लिया। फिर क्या था ! एक दिन उसी के घर में, जब उसकी माँ रात-जागरण में कहीं चली गई थी, छल-बल से मेरा कौमार्य भ्रष्ट किया गया। उस दिन मेरे हृदय में कैसी वेदना हुई, ईश्वर ही जानता है। कहते हैं, पाप बड़ेरी पर चढ़कर चिल्लाता है। उस दुष्ट के कुकृत्य के फलस्वरूप.........।"

इसके बाद थोड़ी देर के लिए मौन होकर, उसने लम्बी सांस छोड़ी, फिर कहा—"अब मैं वह राजेश्वरी नहीं रह गई थी। समाज को देखकर कांप उठती। स्वजन भी मुझे यमदूत प्रतीत होने लगे। स्वयं अपने में ही बेचैन रहती, जान पड़ता था, कुछ गिर गया है। खोई-खोई-सी रहा करती। यह सब भावी आशङ्का के कारण था।

"एक दिन एक पत्रिका में प्रकाशित 'परिवार-नियोजन-योजना' शीर्षक

के ऊपर मेरी दृष्टि पड़ी। मैं बहुत ही दुखी थी। तत्क्षण मन में यह कल्पना जागृत हुई कि हो सकता है, अपनी राष्ट्रीय सरकार ने महिलाओं के कल्याण के लिए कोई योजना बनाई हो, उसी का मूर्त रूप इस समाचार पत्र में पढ़ने को मिल रहा है। उसके विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने प्रयास आरम्भ किया और घर वालों से छिपाकर एक प्रार्थनापत्र भेज दिया। दस-बारह दिनों के पश्चात् मुझे उसका नियुक्ति पत्र मिल गया। यह विषय जानकर पिता जी आपे से बाहर हो गए। किसी तरह उन्हें समझा-बुझा कर आज चार्ज लेने जा रही हूँ।"

क्षणिक विराम लेकर उसने फिर कहा—

"मैंने जो दर-दर की ठोकरें खाईं, मेरा कौमार्य भ्रष्ट किया गया, इस सबका कारण एकमात्र समाज के यही हिंस्र पशु थे, जो बीघा बिस्वा की ओट में हम अबलाओं का आखेट करते हैं। यदि समाज से इस कुप्रथा का नाश न किया गया, तो भारत गारत हो जायेगा।"

गाड़ी की गति धीमी हो रही थी। मेरा गन्तव्य स्थान आ गया था। युवती के प्रेम और आदर को लेकर मैं उतर पड़ी। अपने कार्यक्रम में व्यस्त होने पर भी बहुत समय तक मुझे अपने में यह अनुभूति होती रही—

कान्यकुब्ज समाज की वर्तमान प्रणाली ही देश के पतन का कारण है। ब्राह्मणत्व का स्वांग भरने वाले कुलीनता के ये सारे दावेदार राक्षस हैं।

\+ \+ \+

पाँच वर्ष बाद; आज राजेश्वरी दीक्षित बहुत प्रसन्न है। उसकी गोद में एक सुन्दर-सा नवजात शिशु है। उसके जीवन में यह सुखद परिवर्तन लाने वाला, बीघा बिस्वा के गर्त में पड़े हुए जनों को उठाने वाला, उन्नाव जिले के खास बैसवारे का एक नवयुवक शैलेन्द्र कुमार दीक्षित था, जिसने समाज का भय न मान कर, पाँच हजार में तय अपने विवाह को अस्वीकार करके, समाज से अपमानित राजेश्वरी को अपनी जीवन-संगिनी बना लिया।

समाज के बन्धन उस साहसी युवक को बांध न सके। कुलीनता के ठेकेदारों को झुका कर वह दृढ़निश्चयी युवक आज मुक्त मन से प्रगतिशील क्षेत्र में अपना नाम कर रहा है।

दहेज का दानव

"तुमने उसे इतनी आसानी से क्यों छोड़ दिया था ?" लीला की सखी सरला ने पूछा।

"और करती ही क्या, जो पुरुष इतना कामुक, इतना विलासी और इतना झूठा हो, उसका पीछा करने से लाभ ?"

"तुम ठीक कहती हो बहन, पर यह सब हुआ कैसे ? तुम आरम्भ से ही निगरानी रखती तो शायद, यह नौबत नहीं आती।"

"हो सकता है, पर जिन परिस्थितियों में हम पड़ गई थीं, उन परिस्थितियों में जो कुछ हुआ उससे और भी भयावह परिस्थिति उत्पन्न हो सकती थी। तुम तो जानती हो कि मेरी शादी के समय, बरातियों और घरातियों में एक जरा सी बात पर कितना बड़ा वैषम्य उत्पन्न हो गया था। बरातियों ने कहला भेजा कि उन्हें बीस सेर बादाम चाहिए।"

"बीस सेर बादाम !" सरला ने दुहराया।

"हाँ, बहन, बीस सेर बादाम, पाँच सेर पिश्ता, ढाई सेर गुलकन्द, सवा सेर मिर्च, सवा पाव भाँग, सवा छटांक केसर।"

"यह सब किस लिए ?"

"बाराती लोग भाँग बूटी छानने वाले थे, पर हमारे घर वालों ने इतना सामान भिजवाने में आनाकानी की। फलतः बाराती लोग अप्रसन्न हो गये और बारात बिना मुझे बिदा कराये वापस लौट गयी। रायबरेली के चन्देल ठाकुरों की अक्खड़ता की कहानी तो तुमने सुनी होगी ! पिताजी भी अकड़ गये। लोगों ने लाख समझाया कि तुम लड़की वाले हो, जाओ, समधी को मना लाओ, पर वे न गए और बारात लौट गई।

"न चिट्ठी न पत्री। मैं सुहागिन बनने के साथ-साथ विरहिन भी बन गई। विवाह के समय ही मेरी अवस्था बीस साल की थी, चार वर्ष और

बीत गए, मैं चौबीस की हो गई। बाढ़ ग्रस्त सरिता की भाँति युवावस्था मुझ में तोड़ मारने लगी। उधर उनके बारे में सुना कि वे लखनऊ में मंत्रालय में अच्छे पद पर पहुँच कर अच्छी कमाई कर रहे हैं। एक बार जी में आया कि मैं चुपके से उनके पास चली जाऊँ, पर ऐसा करने के पूर्व मैंने अपने गाँव से एक नाई भेजकर उनके विचार जानना चाहा था।

"नाई ने लखनऊ से लौटकर जो किस्सा बताया उसे सुनकर मुझे काटो तो खून नहीं।"

"क्या कहा था उसने ?" सरला ने पूछा।

लीला बोली—"नाई ने कहा, रमेश बाबू इस समय चारबाग स्टेशन के पास 'श्याम सदन' में रहते हैं। उनके साथ उनके बचपन के साथी शैलेन्द्र भी वहीं रहते हैं। दोनों में बड़ी मैत्री है। शैलेन्द्र की बहू रमेश को बहुत मानती है। शैलेन्द्र की साली उमा रायजादा नाम की एक लड़की है, वे दोनों साथ-साथ घूमने जाते हैं। सिनेमा, नाटक, दावत, तवाजा, बाग-बगीचा, पार्क सभी जगह उमा उनके पीछे छाया की तरह लगी रहती है।"

"नाई के मुँह से इस बात को सुन कर मेरा कलेजा बैठ गया। तब मैंने नाई को सिखा पढ़ाकर अपनी भाभी के पास भेजा। भाभी ने जब सारी बातें सुन लीं तब वे भी बड़ी दुःखी हुई। अन्त में मेरे परिवार की एक गोष्ठी बैठी। उसमें तय यह हुआ कि लखनऊ में किराये का एक मकान लेकर मैं अपनी भाभी के साथ कुछ दिन रहूँ। बहाना यह बनाया जाय कि भाभी की तबियत ठीक नहीं है, वे दवा कर रही हैं। फिर उनको किसी तरह खबर दी जाय। सम्भव है, तब हमारे परिवार से पुनः नया सम्बन्ध स्थापित हो। और, दूसरे सप्ताह यह सब प्रबन्ध कर हम लखनऊ पहुँची और कैसर बाग में एक बंगलिया लेकर वहीं रहने लगीं।

"दस दिन बाद वह शुभ घड़ी आई जब कि वे मेरे यहाँ पधारे। मैं भीतर कमरे में बैठी थी। दरवाजा अधखुला छोड़ दिया गया था। भाभी ने उनका स्वागत किया। मैंने किवाड़ की दराज से झाँक कर देखा, तब जी न जाने, कैसा हो उठा। इच्छा हुई कि दौड़ कर उनके पैरों में पड़कर कहूँ, आखिर मेरा क्या अपराध है जो तुमने मुझे छोड़ रखा है। पर तभी राज-

पूती खून ने जोर मारा, मन ने कहा—आखिर मैं ऐसा क्यों करूँ। वे मेरे पति हैं, स्वस्थ सुन्दर तथा हँसमुख। यही न कि मुझे उनका सामीप्य नहीं प्राप्त हुआ। उस सामीप्य से होगा क्या? वासना जनित शारीरिक सुख की प्राप्ति। बस न! केवल इस क्षुद्र बात के लिए मैं एक ऐसे पुरुष का पैर पकड़ूँ जिसके घर वालों ने छोटी सी बात पर मेरे परिवार का अपमान किया है। भाँग छानने का सामान न मिलने पर बारात लौटा ले जाने का क्या तुक था? और मैं दृढ़ मन भाभी तथा उनकी बात सुनने लगी। भाभी ने उस दौरान में कुछ ऐसी बातें कहीं जो स्वाभाविक होते हुए भी मुझे उचित न जँची, मसलन उन्होंने दबी जबान से कहा कि घर में जवान लड़की को कब तक बैठा रक्खा जाय········।

मुझे लगा, भाभी को यह बात उस समय कहनी चाहिये थी, जब मैं नैहर में बे-कायदे रहती, स्वतन्त्रता पूर्वक घूमती, यौवन रस में मदमस्त होकर बाप-दादों की पगड़ी उछालती फिरती। यह सब तो मैंने एक भी नहीं किया। मैं तो ऐसे रहती हूँ, जैसे 'बहू' रहती है। बेटी की सी स्वतन्त्रता तो मैंने कभी बरती नहीं। इसलिए भाभी की बातें मुझे कुछ अपमान पूर्ण लगीं और मैं तुरन्त अधखुले दरवाजे से उस स्थान पर आ गई जहाँ दोनों व्यक्ति बातचीत कर रहे थे। मैंने घूंघट हटा दिया था। मुझे देखते ही भाभी बोल उठीं—"लीला बेटी, भीतर जाओ।"

मैंने आवेश में कहा—"भाभी, अब आप या और किसी को मेरे लिए विशेष परेशान होने की जरूरत नहीं है। दुर्भाग्य मेरा है, और मैं ही उसे भोगूँगी। मैंने आप के भी विचार सुन लिए हैं तथा दूसरों के भी, अब मैं आप दोनों के परिवारों को सदा के लिए नमस्कार करती हूँ।" इन शब्दों के साथ बिना पीछे मुड़े हुए मैं उस कमरे से तीर की तरह बाहर निकल गई।

यह मेरे जीवन का पहला मौका था, जबकि मैंने बाह्य संसार में कदम रक्खा था। शरीर पर जो वस्त्र था उसके अतिरिक्त मेरे पास कोई दूसरा वस्त्र भी नहीं था। थोड़े से पैसे मेरे पास थे, उनसे मैंने प्रयाग का टिकट कटाया और सीधे प्रयाग पहुँची। प्रयाग में मेरे पुरोहित जी की बेटी व्याही

थी। वह मेरी सखी होती थी। उससे मेरा पत्र-व्यवहार था। वह अपने घर में अकेली थी, अर्थात् उसके पति तथा वह। पहले तो वह मुझे देखकर घबड़ाई पर जब मैंने सारी परिस्थिति व्यक्त कर दी तो उसे धीरज हुआ। शाम को उसके पति आये। उन्हें जब मेरे आने का कारण और सम्बाद मालूम हुआ तो वे गम्भीर होकर बोले—"ठाकुर की लड़की होकर आपने जो कुछ किया है, वह उचित ही किया है; मुझे आप अपने ही परिवार का समझें। हमारे श्वसुर के परिवार ने आपका अन्न खाया है। आप हमारे राजा है, मैं आपको आदर पूर्वक अपने परिवार में रहने के लिये निमन्त्रित करता हूँ। यहाँ आपका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता।"

"जब उस उदारहृदय ब्राह्मण ने इतना आश्वासन दिया तो मेरे जी में जी आया। उसके बाद करीब एक सप्ताह बीतते-बीतते एक दिन मेरे निवास-स्थान पर वे पधारे। पुरोहित जी के दामाद को जब उनका परिचय मिला तो उन्होंने उनका बड़ा स्वागत तथा आदर सत्कार किया, उन्हें दो दिन तक मेहमान बना कर रखा। उन्होंने मुझे उनके साथ जाने के लिए बहुत सम-झाया बुझाया। मेरे पति देव ने भी बहुत आग्रह किया। तब यह सोचकर कि नारी का स्थान उसके स्वामी का घर ही है, मैंने अधिक जिद्द न की और उनके साथ जाने को तैयार हो गयी। पुरोहित जी के दामाद ने मुझे उसी भाँति बिदा किया जैसे एक भाई अपनी बहन को बिदा करता है।

"उन्होंने मुझे लखनऊ लाकर एक होटल में टिका दिया? यह होटल, दारुलशफा के दक्खिन वाले फाटक पर आज भी वर्तमान है। इसी होटल के एक कमरे में मैंने अपना गृहस्थ जीवन आरम्भ किया। दिनभर वे काम के बहाने मुझसे दूर रहते और रात को मेरे पास। उनकी तरफ से मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि वह मेरे वाह्य सौन्दर्य से बहुत प्रभावित हैं। वे प्रायः यह कहा करते थे कि उन्होंने मुझसे बढ़कर कोई सुन्दरी नहीं देखी है।

"मेरा मन अक्सर यह पूछने को हो आता कि यदि आपको मुझसे अधिक सुन्दरी देखने को मिल जाय, तो क्या मुझे छोड़कर चले जायेंगे। पर यह प्रश्न इतना कठोर था कि मेरे मुँह से निकला ही नहीं।

"इस तरह मेरे जीवन के तीन माह और निकल गए। पर इस अवधि में एक दिन भी वे मुझे लेकर होटल से बाहर न निकले। इतना ही नहीं, बल्कि दस बजे रात्रि के पूर्व वे कभी होटल नहीं आए और पाँच बजते निकल जाते थे।"

"तुमने कुछ पूछा नहीं ?"

"मैं जिस स्थिति में पड़ी हुई थी, उस स्थिति में, इससे अधिक सुख की आशा भी तो नहीं की जा सकती थी !

"तब एक दिन, उस दिन सोमवार था, वे दफ्तर चले गए थे, मेरे कमरे में एक युवती ने प्रवेश किया। उसके केश अंग्रेज छोकरियों से सजे थे, वह ओठों पर लाल पोताड़ा पोते थी, आखें सूजी थीं, पूरे ब्लाउज की जगह पर अधटँगा ब्लाउज पहन रखा था, शरीर के कुछ अङ्गों को ऐसा प्रकाशित कर रखा था मानों वह कुलीन घर की बेटी न हो। मैं उसे देखते ही पूछ उठी, 'आप कौन हैं ? यहाँ कैसे आना हुआ ?'

"वह अपना बटुआ नचाती हुई बोली, 'मेरा नाम उमा रायजादा है। मैं चन्द्रभान सिंह रायजादा ताल्लुकदार रियासत गौरावाँ जिला कानपुर की पुत्री हूं।'

"बैठिये" कहकर मैं कुछ बिसूरने लगी।

"मैं बैठने नहीं आई हूं।"

"फिर ?"

"मैं यह पूछने आई हूं कि आखिर तुम हो कौन ? तुमने मेरे पतिदेव को कैसे फँसा रखा है ?"

"आपके पतिदेव !! मैंने दुहराया, फिर पूछा "कहीं आप भूल तो नहीं कर रही हैं ? "उनका नाम क्या है ?"

"वह सूखी हँसी हँसकर बोली—'तुम बड़ी चतुर नायिका मालूम होती हो। उनका नाम रमेशकुमार सिंह है। वे रायबरेली जिले के इलाका मानपुर के सोमवंशी ठाकुर रिछपाल सिंह के पुत्र हैं।'

"मेरे काटो तो खून नहीं। उसने मेरे पतिदेव तथा ससुराल का परि-

चय भी दिया। तब मैंने बिना उत्तेजित हुए, उससे पूछा—"आपका विवाह उनके साथ कब और कहाँ हुआ ?"

"इसी लखनऊ में, मजिस्ट्रेट के कोर्ट में, सिविल मैरिज कानून के अनुसार। पर तुम कौन हो ?"

"मैंने कहा—मैं उनकी स्त्री हूं।"

"स्त्री या वाराङ्गना ? क्या रमेश इतना पतित है कि वह एक गणिका के प्रेम में फंसा हुआ है ! मैं कल ही तलाक की अर्जी दिए देती हूं। बदमाश ! गुण्डा ! होटल में वेश्या के साथ रंगरेलियाँ मनाता है और मुझसे कहता है कि रात को मिनिस्टर के बँगले पर सोना पड़ता है उसे; क्योंकि मिनिस्टर महोदय दौड़े पर चले गए हैं। तो यह है उस मिनिस्टर का बँगला !" और वह आवेश में बड़बड़ाती चली गयी।

सरला बोली—"मैं होती तो उसकी झोंटी पकड़ कर जमीन पर ऐसा पटका देती कि वह जनम भर याद करती। खैर, उसके बाद क्या हुआ ?"

"उसके बाद उसने सचमुच तलाक की अर्जी दे दी।"

"तुमने रमेश से कुछ नहीं पूछा ?"

"पूछती क्या, जब सब बातें अपने आप मालूम होती जा रही थीं, तब पूछना क्या था।"

"और फिर तुमने रमेश के साथ अपने व्यवहार में कुछ परिवर्तन नहीं किया ?"

"बहुत कुछ किया। अब कटी-कटी रहती। वह मुझसे ऐसे बोलते जैसे उन्हें इस बात का सन्देह नहीं था कि कभी मुझसे और उमा रायजादा से भेंट भी हो सकती है।"

"फिर ?"

"अदालत में पेशी हुई। मैं उमा की ओर से गवाह थी, मेरे बयान पर ही सब कुछ निर्भर था। यदि मैं कह देती कि रमेश मेरा पति है, तो रमेश नौकरी से भी हाथ धो बैठते। हाकिम के पूछने पर मैंने भरी अदालत में

यह बयान दिया कि रमेश मेरा कोई नहीं है। मेरा उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं उससे प्रेम करती हूं, भविष्य में भी करती रहूंगी। पर मैंने इसे अपने शरीर पर वह अधिकार न पहले दिया है और न अब देने को तैयार हूं, जो एक नारी अपने पति को देती है।

"मेरे इस बयान पर उमा की तलाक की अर्जी खारिज हो गई।"

"और तुम यहाँ चली आई! तुमने उसे इतनी आसानी से कैसे छोड़ दिया? मैं होती तो रमेश और उमा को ऐसे सबक देती कि उन्हें छठी का दूध याद आ जाता।"

"नहीं सरला? मैं नारी हूँ। तुमने पढ़ा नहीं है कि राम जैसे पति की भार्या ने भी, यह जान लेने पर कि राम के हृदय में उनके लिए कोई स्थान नहीं है, उन्हें छोड़ दिया था। वे देवता थीं, लेकिन हम तो मानव हैं और मानवों में ठाकुर हैं। सुना नहीं, उन्हीं राम के मुख की वाणी है—

"जो नहिं दण्ड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।"

तभी "अब तुम्हें कुछ भी करने की जरूरत नहीं।" उस कमरे के दरवाजे पर खड़े होकर किसी ने कहा, जिस कमरे में सरला और लीला बैठी बातें कर रही थीं।

आवाज कुछ पहचानी हुई थी। उस आवाज ने लीला के हृदय में एक अव्यक्त बेचैनी पैदा कर दी, और वह दरवाजे की ओर बढ़ी। उसने देखा, एक व्यक्ति लम्बे बाल बढ़ाये दरवाजे पर खड़ा है। उसके केश रूक्ष हो रहे हैं और वस्त्र फट गये हैं। यह रमेश था।

लीला को देखते ही वह बोला—"मुझे अब क्षमा कर दो रानी! परिवार ने तुम्हारे निरादर का फल प्राप्त कर लिया है।"

"उमा रायजादा कहाँ गई?" सरला ने व्यंग कसते हुए रमेश से पूछा।

"यह अवसर प्रश्नों के पूछने का नहीं है सखी! इनकी दशा तो देखो, उस चुड़ैल ने न जाने क्या कर दिया है।" इन शब्दों के साथ लीला ने अर्घ्य-

पाँवड़े देकर रमेश को भीतर लाकर बैठा दिया। रमेश के नेत्र निर्झर बन गये। सरला का भी हृदय उमड़ पड़ा, और लीला को तो जैसे उसका खोया हुआ सुहाग मिल गया।

× × ×

दो दिन पहले, अखबार के मुख पृष्ठ पर मोटे अक्षरों में यह समाचार पढ़ने को मिला था—'लखनऊ। उमा रायजादा नाम की एक चरित्र भ्रष्ट लड़की के चक्कर में पड़ कर एक नवयुवक ने अपनी धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपनी नौकरी से भी हाथ धो लिया और पिछले कुछ दिनों तक वह विक्षिप्तावस्था में लखनऊ की सड़कों पर इधर-उधर घूमता दिखाई देता रहा।'

'दिगम्बरा' काव्य-कृति

और

'सरोवर की लहरें' कथा-कृति

के पश्चात् अब

हम आपकी सेवा में

प्रस्तुत करेंगे

'चिकना घड़ा'

सामाजिक उपन्यास

कृतिकार हैं, आपके चिर-परिचित

श्री द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी, शास्त्री

★

प्रेमी-प्रकाशन, रायबरेली

श्री द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी, शास्त्री

व्यक्तित्व से ब्रह्मचारी
कृतित्व से कथाकार
कल्पना से कवि
वृत्ति से विद्यादानी
व्यसन से वैद्य
और
रुचि से रसिक
श्री द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी, शास्त्री
अब
उमंगों से उपन्यासकार
का परिवेश धारण करके
आपके सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं।
तो,
क्या यह सूचना देते हुए,
मुझे गौरव और गर्व का अधिकार नहीं है?
—एस० एल० 'देव'